दिलावर सिंह

बनाम

देहली राज्य

सितम्बर, 5, 2007

[डॉ. अरिजित पसायत और डी.क.जैन,ज ज]

आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार:- आपराधिक अपीलीय संख्या 491/2002

देहली उच्च न्यायालय द्वारा आपराधिक अपील संख्या 186/1996, में पारित अंतिम निर्णय और आदेश दिनांक 04.10.2001 से उत्पन्न।

न्यायमूर्ति डॉक्टर अरिजीत पसायत, 1. इस अपील में विद्वान एकल न्यायाधीश दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा पारित निर्णय को चुनौति दी गई है, जिसके तहत अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत अपील खारिज की गई तथा भारतीय दण्ड संहिता, 1860 (संक्षिप्त में भा.दं.स.) की धारा 452, 392 व 397 के तहत दण्डनीय अपराधों के लिये की गई दोषसिद्धि की पुष्टि की गई थी तथा उसे 01 वर्ष, 02 वर्ष तथा 07 वर्ष के कठोर कारावास की सजा तथा प्रत्येक मामले में डिफाल्ट शर्त के साथ जुर्माने की सजा सुनाई गई। सजाएं एक साथ चलने का निर्देश दिया गया।

2. अभियोजन का मामला संक्षिप्त में निम्न प्रकार है:

शिकायत बलवंत सिंह (जिसे आगे बाद में शिकायतकर्ता- पी डब्ल्यू-1 के रूप में संबोधित किया जाएगा) द्वारा शिकायत निम्नानुसार कथन करते हुए दाखिल की गई थी, जिसमें निम्नलिखित आरोप लगाए गए थे:-

8.8.1984 को वह काली माता के मंदिर, उदासीन आश्रम, ग्राम ताहरपुर, शाहदरा, दिल्ली में बैठा था। वह मंदिर में पुजारी का काम करता है। मंदिर के निर्माण के लिए विभिन्न व्यक्तियों से दान एकत्र किया गया था और वह मंदिर का रखरखाव कर रहा था। वह मंदिर में रहता था और नियमित पूजा करता था। 8.8.1984 को लगभग 9.30 बजे, शाम की पूजा और आरती करने के बाद और रात का खाना खाने के बाद वह ध्यान कर रहा था, तभी पांच लोग जिनमें दो आरोपी व्यक्ति अर्थात् वर्तमान अपीलकर्ता और एक राम सरन और तीन व्यक्ति शामिल थे, जो सिख थे और जिनके नाम वह नहीं जानता परंतु उन्हें पहचान सकता है, मंदिर में घुसकर उसे रस्सी से बांध दिया और दानपेटी में रखे करीब 5000 रुपए नकद लेकर भाग गए। अपीलकर्ता के पास चाकू था, राम सरन के पास लाठी थी और तीन अन्य में से एक सिख था जिसके पास रिवॉल्वर था कुछ समय बाद कंवर सिंह और डॉ. सलेख चंद नाम के दो स्थानीय व्यक्ति मंदिर में आए और उन्होंने पांच लोगों को गगन सिनेमा की ओर भागते हुए भी देखा। उन दोनों ने अपीलकर्ता और राम सरन की पहचान की; उन्होंने रस्सी खोल दी और मदद के लिए चिल्लाये। उनकी चीख सुनकर कई स्थानीय निवासी मंदिर में एकत्र हो गए और शिकायतकर्ता ने उन्हें पूरी घटना बताई।

परिवादी कंवर सिंह व डॉ. सलेख चंद व अन्य लोगों के साथ सीमा पुरी थाने में रिपोर्ट दर्ज कराने गए। लेकिन ड्यूटी ऑफिसर ने उनकी और स्थानीय निवासियों की एक नहीं सुनी और उन्हें वहां से चले जाने का निर्देश दिया. 9.8.1984 को शिकायतकर्ता ने प्रधान मंत्री, पुलिस अधिकारियों को लिखित शिकायत की लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। इसलिए, शिकायत 31.8.1984 को दर्ज की गई थी। सबूतों को देखने के बाद, विद्वान मजिस्ट्रेट इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि अपीलकर्ता, राम सरन और तीन अन्य के खिलाफ आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त सामग्री है। उसने मामला सत्र न्यायालय में प्रेषित किया क्योंकि भा.दं.सं. की धारा 395 से संबंधित अपराध विशेष रूप से उस न्यायालय द्वारा विचारणीय है। आरोपी दिलावर सिंह ने खुद को निर्दोष बताया। कार्यवाही के दौरान राम सरन की मृत्यु हो गई और उनके खिलाफ आरोप हटा दिए गए। पीडब्लू-1 को छोड़कर किसी अन्य गवाह से पूछताछ नहीं की गई। अभियोजन पक्ष की ओर से कहा गया कि अभियोजन को छूट दिए जाने के बावजूद डॉ. सलेश चंद, कंवर सिंह और अन्य का पता नहीं लगाया जा सका। विचारण न्यायालय ने पाया कि शिकायत करने में देरी को स्पष्ट किया गया है और शिकायतकर्ता का वृतांत स्वीकार्य था।

3. उच्च न्यायालय के समक्ष अपील को आक्षेपित निर्णय द्वारा इस आधार पर खारिज कर दिया गया कि पी डब्ल्यू.1 की साक्ष्य स्पष्ट और ठोस थी।

4. अपील के समर्थन में अपीलकर्ता के विद्वान वकील ने प्रस्तुत किया कि कथित घटना 8.8.1984 को हुई थी और शिकायत 31.8.1984 को दर्ज की गई थी। सिवाय इस आशय के एक कोरे बयान कि विभिन्न व्यक्तियों को अभ्यावेदन दिए गए थे लेकिन उस संबंध में कोई सामग्री पेश नहीं की गई थी। इसके अलावा, जब पुलिस एफआईआर दर्ज नहीं करती है तो अपनाए जाने वाले तौर-तरीकों को दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (संक्षेप में 'दं.प्र.सं.') की धारा 154 (3) में बताया गया है। स्वीकार किया गया कि ऐसा नहीं किया गया है। यह भी नहीं बताया गया कि देश के प्रधानमंत्री को कैसे और क्यों अग्रेषित किया गया, यहां तक कि यह दिखाने के लिए भी कोई सामग्री पेश नहीं की गई है कि ऐसी कोई शिकायत प्रधानमंत्री या पुलिस अधिकारी से की गई थी। किसी भी प्रक्रम पर, अभियुक्त के लिए कोई वकील नियुक्त नहीं किया गया था जिसके पास वकील नियुक्त करने का साधन नहीं था, ऐसी स्थिति में दं.प्र.सं. की धारा 304 के प्रावधान का स्पष्ट उल्लंघन किया गया। किसी भी प्रक्रम पर, भा.दं. सं. की धारा 397 की सामग्री स्थापित नहीं की गई है।

5. दूसरी ओर, प्रतिवादी के विद्वान वकील ने कहा कि शिकायत दर्ज करने में देरी किसी भी तरह से पी डब्ल्यू 1 की साक्ष्य की विश्वसनीयता को प्रभावित नहीं करती है।

6. PW1 का साक्ष्य ही एकमात्र सामग्री है जिस पर दोषसिद्धि दर्ज की गई है। न्यायालय में उसका बयान था कि आरोपी अपीलकर्ता और राम सरन के पास चाकू थे और अन्य सिख आरोपियों के पास लाठियाँ थीं। लेकिन शिकायत में कहा गया कि राम सरन के पास लाठी थी और एक आरोपी सिख के पास रिवॉल्वर थी। यह स्वीकृत है कि किसी भी अभियुक्त द्वारा शिकायतकर्ता को कोई चोट नहीं पहुंचाई गई।

7. यह दिखाने के लिए सामग्री न जोड़ने का प्रभाव कि वास्तव में शिकायत पुलिस के समक्ष की गई थी और एफआईआर दर्ज नहीं की गई थी, इस न्यायालय द्वारा कई मामलों में विचार किया गया है। धारा 304 दण्ड प्रक्रिया संहिता प्रावधित करती है कि जब आरोपी का प्रतिनिधित्व नहीं किया जाता है, तो न्यायालय को एक वकील नियुक्त करना होगा ताकि आरोपी प्रतिरक्षा से वंचित न रह जाए।

8. आपराधिक मुकदमे में न्यायालय के लिए मुख्य सिद्धांतों में से एक रिपोर्ट दर्ज करने में देरी के लिए संभावित स्पष्टीकरण की तलाश करना है। देरी से कभी-कभी शिकायतकर्ता को शिकायत पर विचार-विमर्श करने और अतिरंजन करने या यहां तक कि मनगढ़ंत बातें करने का अवसर मिल जाता है। देरी से मामले के साफ और बेदाग वृतांत को जल्द से जल्द न्यायालय के सामने पेश करने की संभावना खत्म हो जाती है। इसीलिए यदि पुलिस या न्यायालय के सामने आने में देरी होती है, तो अदालतें

हमेशा आरोपों को संदेह की दृष्टि से देखती हैं और संतोषजनक स्पष्टीकरण की तलाश करती हैं। यदि ऐसी कोई संतुष्टि नहीं होती है, तो देरी को अभियोजन मामले के लिए घातक माना जाता है। थुलिया काली बनाम तमिलनाडु राज्य, एआईआर (1973) ऐसेसी 501 में, यह माना गया था कि प्रथम सूचना रिपोर्ट दर्ज करने में विलम्ब अक्सर बाद के विचार के परिणामस्वरूप अतिरंजन का परिणाम होती है। विलम्ब के कारण रिपोर्ट न केवल सहजता के लाभ से वंचित हो जाती है, बल्कि विचार-विमर्श और परामर्श के परिणामस्वरूप रंगीन संस्करण, अतिरंजित विवरण या मनगढ़ंत कहानी पेश किए जाने का खतरा भी मंडराने लगता है। राम जग और अन्य बनाम उत्तरप्रदेश राज्य, एआईआर (1974) ऐसेसी 606 में स्थिति स्पष्ट की गई थी कि क्या विलम्ब इतना अधिक है कि अभियोजन मामले के मूल पर संदेह के बादल मंडराने लगें, यह विभिन्न कारकों पर निर्भर होना चाहिए जो अलग-अलग होंगे। मामले दर मामले यदि गवाहों के पास आरोपी को फंसाने का कोई मकसद नहीं है और/या जब इसके लिए संतोषजनक स्पष्टीकरण पेश किया जाता है तो अत्यधिक विलम्ब को भी माफ किया जा सकता है। दूसरी ओर, रिपोर्ट का शीघ्र दाखिल होना अभियोजन कहानी की सत्यता या प्रामाणिकता की अचूक गारंटी नहीं है।

9. शिकायतकर्ता ने यह कहकर विलम्ब को समझाने का प्रयास किया कि मामले की सूचना पुलिस को दी गई थी लेकिन पुलिस ने कोई कार्रवाई नहीं की। इस तरह के बयान से शायद ही विलम्ब की व्याख्या की

जा सके। यह तर्क देना सबसे आसान है कि रिपोर्ट दर्ज होने के बावजूद पुलिस ने कोई कदम नहीं उठाया। लेकिन यह पुष्टि करने के लिए पुलिस से आवश्यक रिकॉर्ड मंगाकर स्थापित किया जाना चाहिए कि वास्तव में पुलिस के पास एक रिपोर्ट दर्ज की गई थी और पुलिस मामले को लेने में विफल रही। इस सिद्धांत को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 210 में वैधानिक मान्यता दी गई है। जिसमें मजिस्ट्रेट पर यह दायित्व अधिरोपित किया गया है कि जब उसके समक्ष यह प्रकट होता है कि या तो जांच के दौरान या शिकायत के विचारण के दौरान कि एक शिकायत उन्हीं तथ्यों के संबंध में पुलिस के समक्ष अनुसंधानाधीन है तो वह परिवाद मामले की कार्यवाही को रोक देगा तथा पुलिस से रिपोर्ट मंगवाएगा और जब पुलिस से रिपोर्ट प्राप्त हो जाती है तो वह मामले की सुनवाई साथ साथ करेगा तथा यदि पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान लिया जाता है तो वह दोनों ही मामलों की सुनवाई साथ साथ ऐसे करेगा जैसे कि दोनों मामले पुलिस रिपोर्ट पर संस्थित हो। प्रावधान का उद्देश्य अनावश्यक उत्पीड़न से आरोपी के हितों की रक्षा करना है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 210 के प्रावधान अनिवार्य प्रकृति के हैं। यह सच हो सकता है कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 210 के प्रावधानों का अनुपालन न करना, दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 465 के प्रावधानों के कारण अभियोजन के लिए वास्तव में घातक नहीं है। जब तक कि त्रुटि, चूक या अनियमितता भी न्याय की विफलता का कारण नहीं बनी है और इस तथ्य का निर्धारण करते समय कि क्या न्याय की विफलता है,

न्यायालय को इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि क्या आपत्ति पहले चरण में उठाई जा सकती थी और उठायी जानी चाहिए थी। लेकिन उन्हीं सिद्धांतों को लागू करने पर भी यह देखा जा सकता है कि वास्तव में अपीलकर्ता पुलिस द्वारा रिकॉर्ड प्रस्तुत न किए जाने के कारण पूर्वाग्रह से ग्रस्त था। पुलिस की निष्क्रियता के कारण शिकायत दर्ज करने में देरी को पुलिस से रिकॉर्ड मंगाकर समझाया जाना चाहिए, यह खेदु मोहटन और अन्य बनाम बिहार राज्य, एआईआर (1971) ऐसेसी 66 में स्पष्ट किया गया था। जहां न्यायालय ने इस तथ्य पर आपत्ति जताई कि पुलिस के पास दर्ज की गई शिकायत को तलब नहीं किया गया था या साबित नहीं किया गया था, ऐसी किसी भी शिकायत का कोई संतोषजनक सबूत न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था, और धारा 173 दण्ड प्रक्रिया संहिता के तहत कोई भी दस्तावेज़ न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया गया था।

10. जब पुलिस स्टेशन में सूचना दी जाती है तो आम तौर पर दो रास्ते खुले होते हैं। स्टेशन डायरी में प्रविष्टि की जा सकती है या एफआईआर दर्ज की जा सकती है। यदि कोई विचलन होता है, तो धारा 154(3) का सहारा लेना होगा। यदि इससे कोई परिणाम नहीं निकलता है तो शिकायत दर्ज की जा सकती है।

11. धारा 156 इस प्रकार है:

"156. संज्ञेय मामलों की अन्वेषण करने की पुलिस अधिकारी की शक्ति। -

(1) कोई पुलिस थाने का भारसाधक अधिकारी मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना किसी ऐसे संज्ञेय मामले का अन्वेषण कर सकता है, जिसकी जांच या विचारण करने की शक्ति उस थाने की सीमाओ के अन्दर के स्थानीय क्षेत्र पर अधिकारिता रखने वाले न्यायालय को अध्याय 13 के उपबंधों के अधीन है।

(2) ऐसे किसी भी मामले में किसी भी पुलिस अधिकारी की किसी कार्यवाही को किसी भी प्रक्रम में इस आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जाएगा कि वह मामला ऐसा था जिसमें ऐसा अधिकारी इस धारा के अधीन अन्वेषण करने के लिए सशक्त न था।

(3) धारा 190 के अधीन सशक्त किया गया कोई मजिस्ट्रेट पूर्वोक्त प्रकार के अन्वेषण का आदेश कर सकता है।

12. अध्याय XII के अंतर्गत आने वाली धारा 156, संज्ञेय अपराधों की जांच करने के लिए पुलिस अधिकारियों की शक्तियों से संबंधित है। अध्याय XV में निहित धारा 202 में परिकल्पित जांच दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 के तहत विचारित से अलग है।

13. दण्ड प्रक्रिया संहिता का अध्याय XII इसमें "पुलिस को सूचना और जांच करने की उनकी शक्तियों" से संबंधित प्रावधान शामिल हैं, जबकि अध्याय XV, जिसमें धारा 202 शामिल है, उन चरणों से संबंधित प्रावधानों

से संबंधित है जो एक मजिस्ट्रेट को एक शिकायत पर किसी भी अपराध का संज्ञान लेने के दौरान और उसके बाद अपनाना होता है। उपरोक्त दो अध्यायों के प्रावधान पूरी तरह से दो अलग-अलग पहलुओं से निपटते हैं, हालांकि एक सामान्य कारक हो सकता है यानी किसी व्यक्ति द्वारा दर्ज की गई शिकायत। अध्याय XII के अंतर्गत आने वाली धारा 156, संज्ञेय अपराधों की जांच करने के लिए पुलिस अधिकारियों की शक्तियों से संबंधित है। सच है, धारा 202, जो अध्याय XV के अंतर्गत आती है, एक मजिस्ट्रेट की "एक पुलिस अधिकारी द्वारा जांच का निर्देश देने" की शक्ति को भी संदर्भित करती है। लेकिन धारा 202 में परिकल्पित जांच दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 में विचारित जांच से अलग है।

14. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 के तहत जांच के लिए अपनाए जाने वाले विभिन्न कदम। दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय XII में विस्तार से बताया गया है। इस तरह की जांच एक पुलिस स्टेशन के प्रभारी अधिकारी द्वारा रखी जाने वाली पुस्तक में एक संज्ञेय अपराध से संबंधित जानकारी के सार को दर्ज करने के साथ शुरू होगी। उसके बाद शुरू की गई जांच केवल पुलिस द्वारा दर्ज की गई रिपोर्ट के साथ समाप्त हो सकती है जैसा कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 में बताया गया है। उस अध्याय में विचारित जांच मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना भी पुलिस द्वारा शुरू की जा सकती है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि जब कोई मजिस्ट्रेट धारा 156(3) के तहत जांच का आदेश देगा तो यह एक अलग

तरह की जांच होगी। ऐसी जांच भी दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 में विचारित रिपोर्ट के साथ ही समाप्त होनी चाहिए। लेकिन ध्यान देने वाली महत्वपूर्ण बात यह है कि, जब एक मजिस्ट्रेट अध्याय XII के तहत जांच का आदेश देता है तो वह अपराध का संज्ञान लेने से पहले ऐसा करता है।

15. लेकिन यदि मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान लेने का प्रस्ताव रखता है तो उसे ऐसी किसी जांच का आदेश देने की आवश्यकता नहीं है। एक बार जब वह अपराध का संज्ञान ले लेता है तो उसे दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय XV में परिकल्पित प्रक्रिया का पालन करना होता है। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 202(1) का वाचन स्थिति स्पष्ट करती है कि उसमें उल्लिखित जांच सीमित प्रकृति की है। मजिस्ट्रेट यह निर्देश दे सकता है कि ऐसा अन्वेषण या तो पुलिस अधिकारी द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किया जाए। ऐसा अन्वेषण केवल मजिस्ट्रेट को यह तय करने में मदद करने के लिए है कि आगे बढ़ने के लिए उसके पास पर्याप्त आधार है या नहीं। इसे धारा 202(1) के अंतिम शब्दों से समझा जा सकता है।

> "या यह तय करने के उद्देश्य से कि आगे बढ़ने के लिए पर्याप्त आधार है या नहीं, किसी पुलिस अधिकारी या ऐसे अन्य व्यक्ति द्वारा, जिसे वह उचित समझे, जांच करने का निर्देश दे सकता है"।

16. ऐसा इसलिए है क्योंकि उसने पहले ही शिकायत में बताए गए अपराध का संज्ञान ले लिया है, और उसके बाद मामले का अधिकार क्षेत्र उसके पास होगा।

17. इसलिए स्पष्ट स्थिति यह है कि कोई भी न्यायिक मजिस्ट्रेट अपराध का संज्ञान लेने से पहले दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156(3) के तहत जांच का आदेश दे सकता है। यदि वह ऐसा करता है, तो उसे शिकायतकर्ता की शपथ पर जांच नहीं करनी है क्योंकि वह किसी भी अपराध का संज्ञान नहीं ले रहा था। पुलिस को जांच शुरू करने में सक्षम बनाने के उद्देश्य से मजिस्ट्रेट के पास पुलिस को एफआईआर दर्ज करने का निर्देश देने का अधिकार है। ऐसा करने में कुछ भी गैरकानूनी नहीं है. आख़िरकार, एफआईआर दर्ज करने में दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 154 में बताए अनुसार पुलिस स्टेशन के प्रभारी अधिकारी द्वारा रखी गई पुस्तक में संज्ञेय अपराध के कमीशन से संबंधित जानकारी के सार को दर्ज करने की प्रक्रिया शामिल है। भले ही कोई मजिस्ट्रेट दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156(3) के तहत जांच का निर्देश देते समय इतने शब्दों में न कहे. एफआईआर दर्ज की जानी चाहिए, यह पुलिस स्टेशन के प्रभारी अधिकारी का कर्तव्य है कि वह शिकायत द्वारा बताए गए संज्ञेय अपराध के संबंध में एफआईआर दर्ज करे क्योंकि वह पुलिस अधिकारी दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय XII में बताए गए आगे के कदम उसके बाद ही उठा सकता है।

18. उपरोक्त स्थिति को सुरेश चंद जैन बनाम एमपी राज्य और अन्य, [2001] 2 ऐसेसीसी 628 में उजागर किया गया था।

19. गोपाल दास सिंधी और अन्य बनाम असम राज्य और अन्य, एआईआर (1961) ऐसेसी 986 में निम्नानुसार प्रेक्षित किया गया:

"जब 3 अगस्त, 1957 को श्री थॉमस को शिकायत प्राप्त हुई, तो उनका आदेश, जिसे हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं, स्पष्ट रूप से इंगित करता है कि उन्होंने शिकायत में उल्लिखित अपराधों का संज्ञान नहीं लिया था, बल्कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156(3) के तहत शिकायत भेजी थी। जांच के लिए पुलिस स्टेशन गौहाटी के प्रभारी अधिकारी को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 156 (3) में कहा गया है, "धारा 190 के तहत अधिकार प्राप्त कोई भी मजिस्ट्रेट उपर्युक्त के अनुसार ऐसी जांच का आदेश दें। श्री थॉमस निश्चित रूप से धारा 190 के तहत संज्ञान लेने के लिए सशक्त एक मजिस्ट्रेट थे और शिकायत प्राप्त होने पर उन्हें किसी अपराध का संज्ञान लेने का अधिकार था। हालांकि, उन्होंने संज्ञान लेने का नहीं बल्कि भेजने का फैसला किया। जांच के लिए पुलिस को शिकायत क्योंकि धारा 147, 342 और 448 संज्ञेय अपराध थे। हालांकि, यह आग्रह किया गया था कि एक बार शिकायत दर्ज होने के बाद मजिस्ट्रेट संज्ञान लेने और दण्ड प्रक्रिया संहिता के अध्याय XVI के तहत आगे बढ़ने के लिए बाध्य था। यह स्पष्ट है हालाँकि, अध्याय XVI तभी लागू होगा जब मजिस्ट्रेट ने उसके

सामने दायर शिकायत पर अपराध का संज्ञान लिया हो, क्योंकि धारा 200 में कहा गया है कि शिकायत पर अपराध का संज्ञान लेने वाला मजिस्ट्रेट तुरंत शिकायतकर्ता और गवाहों की जांच करेगा। उपस्थित हों, यदि कोई हो, शपथ पर और परीक्षा के सार को लिखित रूप में कम किया जाएगा और शिकायतकर्ता और गवाहों और मजिस्ट्रेट द्वारा भी हस्ताक्षर किए जाएंगे। यदि मजिस्ट्रेट ने उसके समक्ष दायर शिकायत पर अपराध का संज्ञान नहीं लिया था, वह शपथ पर शिकायतकर्ता और शिकायत दर्ज करने के समय उपस्थित गवाहों की जांच करने के लिए बाध्य नहीं था। हम धारा 190 के प्रावधानों को इस अर्थ में नहीं पढ़ सकते हैं कि एक बार शिकायत दर्ज होने के बाद, यदि शिकायत में बताए गए तथ्य किसी अपराध के घटित होने का खुलासा करते हैं तो मजिस्ट्रेट संज्ञान लेने के लिए बाध्य है। हम धारा 190 में 'हो सकता है' शब्द का अर्थ 'जरूर' करने में असमर्थ हैं। वज़ह साफ है। संज्ञेय अपराधों का खुलासा करने वाली शिकायत मजिस्ट्रेट को धारा 156(3) के तहत शिकायत को जांच के लिए पुलिस के पास भेजने को उचित ठहरा सकती है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि मजिस्ट्रेट का समय बर्बाद किया जाए जब संज्ञेय अपराधों से जुड़े मामलों में जांच करने का कर्तव्य मुख्य रूप से पुलिस का है। दूसरी ओर, ऐसे अवसर भी हो सकते हैं जब मजिस्ट्रेट अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है और संज्ञेय अपराध का संज्ञान ले सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो उसे दं.प्र.सं. के अध्याय XVI में दिए गए तरीके से आगे बढ़ना होगा।

अपीलकर्ताओं की ओर से की गई दलीलों के समर्थन में हमारे सामने कई मामलों का हवाला दिया गया। इस बारे में भी कुछ दलीलें दी गईं कि "संज्ञान लेने" का क्या मतलब है। उद्धृत मामलों का उल्लेख करना अनावश्यक है। कानूनी मामलों के अधीक्षक और स्मरणकर्ता, पश्चिम बंगाल बनाम अबनी कुमार बनर्जी, एआईआर (1950) कैल 437 के मामले में श्री न्यायमूर्ति दास गुप्ता द्वारा निम्नलिखित प्रेक्षण किया गयाः

> "संज्ञान लेना क्या है, इसे आपराधिक प्रक्रिया संहिता में परिभाषित नहीं किया गया है और मुझे इसे परिभाषित करने का प्रयास करने की कोई इच्छा नहीं है। यह हालाँकि मुझे स्पष्ट लगता है कि इससे पहले कि यह कहा जा सके कि किसी भी मजिस्ट्रेट ने धारा 190(1)(ए), आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत किसी अपराध का संज्ञान लिया है, उसे न केवल याचिका की सामग्री पर अपना दिमाग लगाना होगा बल्कि उसे इस अध्याय के बाद के प्रावधानों में बताए अनुसार एक विशेष तरीके से आगे बढ़ने के उद्देश्य से ऐसा किया गया होगा- धारा 200 के तहत कार्यवाही करना और उसके बाद धारा 202 के तहत जांच और रिपोर्ट के लिए भेजना। जब मजिस्ट्रेट अपना दिमाग लगाता है तो इस उद्देश्य के लिए नहीं इस अध्याय की अगली धाराओं के तहत कार्यवाही, लेकिन किसी अन्य प्रकार की कार्रवाई करने

के लिए, जैसे, धारा 156(3) के तहत जांच का आदेश देना, या जांच के उद्देश्य के लिए तलाशी वारंट जारी करना, यह नहीं कहा जा सकता है कि उसने अपराध का संज्ञान लिया है।"

आर.आर. चारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, [1951] ऐसेसीआर 312 में इस न्यायालय द्वारा अनुमोदित किया गया था। श्री न्यायमूर्ति दास गुप्ता की टिप्पणियों से यह स्पष्ट होगा कि जब एक मजिस्ट्रेट विभिन्न के तहत आगे बढ़ने के उद्देश्य से अपना दिमाग लगाता है अध्याय XVI की धाराएँ लेकिन किसी अन्य प्रकार की कार्रवाई करने के लिए, जैसे, धारा 156(3) के तहत जांच का आदेश देना या जांच के उद्देश्य के लिए तलाशी वारंट जारी करना, यह नहीं कहा जा सकता कि उसने किसी अपराध का संज्ञान लिया है। ऊपर उल्लिखित श्री न्यायमूर्ति दास गुप्ता की टिप्पणियों को नारायणदास भगवानदास माधवदास बनाम पश्चिम बंगाल राज्य, एआईआर (1959) ऐसेसी 1118 के मामले में इस न्यायालय द्वारा भी अनुमोदित किया गया था। इसलिए, यह स्पष्ट होगा कि वर्तमान मामले में किसी अपराध का संज्ञान लेने की दृष्टि से न तो अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट और न ही श्री थॉमस ने 3 अगस्त, 1957 को दायर शिकायत पर

अपना दिमाग लगाया। अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने इससे निपटने के लिए शिकायत श्री थॉमस को दे दी। श्री थॉमस ने देखा कि शिकायत में संज्ञेय अपराधों का उल्लेख किया गया था, उन्होंने किसी अपराध का संज्ञान लेने की दृष्टि से इस पर अपना दिमाग नहीं लगाया; इसके विपरीत उनकी राय में यह दं.प्र.सं. की धारा 156(3) के तहत पुलिस द्वारा जांच किया जाने वाला मामला था। श्री थॉमस की कार्रवाई श्री न्यायमूर्ति दास गुप्ता की टिप्पणियों के अंतर्गत आती है। इन परिस्थितियों में, हमें नहीं लगता कि अपीलकर्ताओं की ओर से पहली दलील में कोई दम है।"

20. नारायणदास भगवानदास माधवदास बनाम पश्चिम बंगाल राज्य, एआईआर (1959) ऐसेसी 1118 में इसे इस प्रकार देखा गया:

"19.9.1952 को, अपीलकर्ता अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित हुआ जिसने निम्नलिखित आदेश दिया:-

"उसे 50,000 रुपये की जमानत देनी होगी और प्रत्येक 5,000 रुपये की दस प्रतिभूतियां देनी होंगी। पुलिस रिपोर्ट को देखा गया, अन्वेषण को पूर्ण करने हेतु 19 नवम्बर, 1952 तक का समय दिया गया।"

19.11.1952 को, पुलिस रिपोर्ट के अवलोकन पर मजिस्ट्रेट ने जांच के लिए 2 जनवरी, 1953 तक का और समय दिया और उस तारीख को समय को 2 फरवरी, 1953 तक बढ़ा दिया गया। इस बीच, 27 जनवरी, 1953 को इंस्पेक्टर मित्रा शिकायत दर्ज करने के लिए विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 23(3)(बी) के तहत अधिकृत किया गया था। तदनुसार, 2 फरवरी, 1953 को एक शिकायत दर्ज की गई। अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने निम्नलिखित आदेश अभिलिखित किया:

> "आज आरोपी नारायणदास भगवानदास माधवदास के खिलाफ विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 8(2) के साथ धारा 23 बी के साथ पठित समुद्री सीमा शुल्क अधिनियम की धारा 19 और 27 तारीख की अधिसूचना संख्या एफ.ई.आर.ए.105/51 के तहत दर्ज की गई शिकायत देखी। फरवरी, 1951, यथासंशोधित, विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 8(2) के तहत भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा जारी किया गया। प्राधिकार पत्र देखा। श्री एम.एच. सिन्हा, ऐसे.डी.एम.(सदर), मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी (विशेष अधिकार प्राप्त) कानून के अनुसार निपटान के पक्ष में। अभियुक्त को उसके समक्ष उपस्थित होने के लिए।"

तदनुसार, उसी तिथि को श्री सिन्हा ने निम्नलिखित आदेश पारित किया:-

"अभियुक्त उपस्थित। जमानत कम करने के लिए याचिका दायर की गई। सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, 5 जमानतदारों के साथ 25,000 रुपये पर जमानत दी गई।

साक्ष्य के लिए 26.3.1952 और 27.3.1952 तक।"

इन आदेशों से स्पष्ट है कि 19.9.1952 को अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने अपराध का संज्ञान नहीं लिया था क्योंकि उन्होंने पुलिस को जांच पूरी करने के लिए 19 नवंबर 1952 तक का समय दिया था। उनके बाद के आदेशों से जांच का समय 2 फरवरी, 1953 तक बढ़ा दिया गया। किस तारीख को शिकायत दर्ज की गई थी और अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के आदेश ने स्पष्ट रूप से संकेत दिया कि उन्होंने अपराध का संज्ञान लिया और मामले को सुनवाई के लिए श्री सिन्हा के पास भेज दिया। श्री सिन्हा के आदेश से यह भी प्रतीत होता है कि यदि अपर जिला मजिस्ट्रेट ने संज्ञान नहीं लिया तो अवश्य लिया क्योंकि उन्होंने विचार किया कि क्या जमानत कम की जानी चाहिए और साक्ष्य के लिए 26 और 27 मार्च की तारीख तय की। हालाँकि, यह तर्क दिया गया था कि जब मित्रा ने 16 सितंबर, 1952 को तलाशी वारंट के लिए आवेदन किया था, तो अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने उस पर एक आदेश पारित किया था, "अनुमति, तलाशी वारंट जारी करें।" इसी तिथि को अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने अपराध का संज्ञान लिया था। हम इस दलील से सहमत नहीं हो सकते क्योंकि

इंस्पेक्टर मित्रा की याचिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "चूंकि यह गैर-संज्ञेय अपराध है, मैं प्रार्थना करता हूं कि आप कृपया मुझे दं.प्र.सं. की धारा 155 के तहत मामले की जांच करने की अनुमति देंगे।" कहने का तात्पर्य यह है कि अपर जिलाधिकारी को अपराध का संज्ञान लेने के लिए नहीं कहा जा रहा था। उनसे केवल पुलिस अधिकारी को एक गैर-संज्ञेय अपराध की जांच करने की अनुमति देने का अनुरोध किया गया था। अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट से गिरफ्तारी का वारंट जारी करने का अनुरोध करने वाली याचिका और ऐसे वारंट जारी करने का निर्देश देने वाले उनके आदेश को उन आदेशों के रूप में नहीं माना जा सकता है जो इंगित करते हैं कि अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट ने अपराध का संज्ञान लिया है। याचिका में साफ कहा गया था कि जांच के लिए उनकी मौजूदगी जरूरी है. इंस्पेक्टर मित्रा द्वारा उठाया गया कदम मामले की जांच में महज एक कदम था. धारा के प्रावधानों को ध्यान में रखते हुए उसके पास स्वयं गिरफ्तारी करने की शक्ति नहीं थी। दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 155(3)। अपनी जांच को सुविधाजनक बनाने के लिए उसके लिए अपीलकर्ता को गिरफ्तार करना आवश्यक था और वह अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट से गिरफ्तारी वारंट के बिना ऐसा नहीं कर सकता था। जैसा कि पहले ही कहा गया है, 19 सितंबर, 1952 के अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के आदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अभी भी इस मामले को जांच के तहत मान रहे थे। यह किसी भी अच्छे कारण के साथ नहीं कहा जा सकता है कि अतिरिक्त जिला

मजिस्ट्रेट ने या तो 16 सितंबर को, या 2 फरवरी, 1953 तक किसी भी बाद की तारीख में, अपीलकर्ता के खिलाफ एक प्रक्रिया जारी करने की दृष्टि से मामले पर अपना दिमाग लगाया था। अपीलकर्ता 2 फरवरी, 1953 को मजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ था और उसे समन जारी करने का सवाल ही नहीं उठता। हालाँकि, अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट को इस तिथि पर संज्ञान लिया गया माना जाना चाहिए क्योंकि उन्होंने मामले को सुनवाई के लिए श्री सिन्हा के पास भेजा था। 2 फरवरी, 1953 को अपराध का संज्ञान लेने में अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट के लिए कोई कानूनी बाधा नहीं थी, क्योंकि उस तारीख को इंस्पेक्टर मित्रा की शिकायत एक ऐसी शिकायत थी जिसे करने के लिए उन्हें रिजर्व बैंक द्वारा धारा के तहत अधिकृत किया गया था। विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 23(3)(बी)। इस प्रकार यह हमारे लिए स्पष्ट है कि अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट द्वारा दिए गए विभिन्न आदेशों को ठीक से पढ़ने पर 2 फरवरी, 1953 तक अपराध का कोई संज्ञान नहीं लिया गया था। तर्क यह है कि उन्होंने 16 सितंबर, 1952 को अपराध का संज्ञान लिया था। बिना आधार के अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट द्वारा 16 सितंबर, 1952, 19 सितंबर, 1952, 19 नवंबर, 1952 और 2 जनवरी, 1953 को आदेश पारित किए थे, जबकि पुलिस द्वारा एक गैर-संज्ञेय अपराध की जांच जारी थी। यदि जांच के अंत में अपीलकर्ता के खिलाफ कोई शिकायत दर्ज नहीं की गई थी तो पुलिस धारा के प्रावधानों के तहत कार्रवाई कर सकती थी। दं.प्र.सं. की धारा 169 अतिरिक्त जिला

मजिस्ट्रेट को पुलिस रिपोर्ट पर अपराध का संज्ञान लेने और आरोपी पर मुकदमा चलाने या उसे मुकदमे के लिए प्रतिबद्ध करने का अधिकार दिया गया है। मजिस्ट्रेट को मामले में कोई और आदेश पारित करने की आवश्यकता नहीं होगी। दूसरी ओर, यदि जांच पूरी करने के बाद शिकायत दर्ज की गई थी, जैसा कि इस मामले में है, तो अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट का यह कर्तव्य होगा कि वह यह जांच करे कि क्या शिकायत रिज़र्व बैंक के अपेक्षित प्राधिकारी के साथ दायर की गई थी या नहीं। ऐसे द्वारा विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 23(3) (बी)। केवल इस स्तर पर ही अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट को यह निर्णय लेने के लिए बुलाया जाएगा कि क्या वह अपराध का संज्ञान लेंगे। यदि उपरोक्तानुसार शिकायत रिज़र्व बैंक के प्राधिकारी के पास दर्ज की गई थी, तो मजिस्ट्रेट को संज्ञान लेने में कोई कानूनी बाधा नहीं होगी। दूसरी ओर, यदि ऐसे. द्वारा अपेक्षित शिकायत दर्ज करने के लिए कोई उचित प्राधिकार नहीं था। 23 संबंधित मजिस्ट्रेट को संज्ञान लेने से रोका जाएगा। वर्तमान मामले में, चूंकि रिज़र्व बैंक द्वारा 27 जनवरी, 1953 को शिकायत दर्ज करने के लिए अपेक्षित अधिकार दिया गया था, 2 फरवरी को दायर की गई शिकायत, ऐसे के प्रावधानों का अनुपालन करने वाली थी। विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम की धारा 23 और अतिरिक्त जिला मजिस्ट्रेट उस अपराध का संज्ञान ले सकता है, जो वास्तव में, उसने उस तारीख को किया था। कानूनी मामलों के अधीक्षक और स्मरणकर्ता, पश्चिम बंगाल बनाम अबनि कुमार बनर्जी,

ए.आई.आर. (1950) कलकत्ता 437 के मामले में दास गुप्ता, न्यायमूर्ति द्वारा निम्नलिखित टिप्पणी की गई जिसे आर. आर. चारी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य, [1951] ऐसे.सी.आर. 312 के मामले में इस न्यायालय द्वारा अनुमोदित किया गया था।

> "संज्ञान लेना क्या है, इसे आपराधिक प्रक्रिया संहिता में परिभाषित नहीं किया गया है। और मुझे इसे परिभाषित करने का प्रयास करने की कोई इच्छा नहीं है। हालांकि यह मुझे स्पष्ट लगता है कि इससे पहले यह कहा जा सकता है कि किसी भी मजिस्ट्रेट ने धारा 190 के तहत किसी अपराध का संज्ञान लिया है (1)(ए) आपराधिक प्रक्रिया संहिता, उसने न केवल याचिका की सामग्री पर अपना दिमाग लगाया होगा बल्कि एक विशेष तरीके से आगे बढ़ने के उद्देश्य से ऐसा किया होगा जैसा कि इसमें दर्शाया गया है। इस अध्याय के बाद के प्रावधान धारा 200 के तहत कार्यवाही करना और उसके बाद धारा 202 के तहत जांच और रिपोर्ट के लिए भेजना। जब मजिस्ट्रेट इस अध्याय के बाद की धाराओं के तहत कार्यवाही के उद्देश्य से नहीं, बल्कि किसी अन्य की कार्रवाई करने के लिए अपना दिमाग लगाता है। उदाहरण के लिए, धारा 156(3) के तहत जांच का आदेश देना, या जांच के उद्देश्य के लिए तलाशी वारंट

जारी करना, यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपराध का संज्ञान लिया है।"

हालाँकि, यह तर्क दिया गया है कि चारी के मामले में यह अदालत एक ऐसे मामले से निपट रही थी जो भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम के तहत आता था। हालाँकि, हमें ऐसा लगता है कि इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह वह सिद्धांत है जो दास गुप्ता, जे. द्वारा प्रतिपादित किया गया था, जिसे अनुमोदित किया गया था। किसी अपराध का संज्ञान कब लिया जाता है, यह प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करेगा और यह परिभाषित करने का प्रयास करना असंभव है कि संज्ञान लेने का क्या मतलब है। किसी जांच के उद्देश्य से तलाशी वारंट जारी करना या उस उद्देश्य के लिए गिरफ्तारी वारंट जारी करना अपने आप में ऐसे कार्य नहीं माना जा सकता है जिसके द्वारा किसी अपराध का संज्ञान लिया गया हो। जाहिर है, ऐसा तभी होता है जब एक मजिस्ट्रेट धारा के तहत कार्यवाही के उद्देश्य से अपना दिमाग लगाता है। 200 और आपराधिक प्रक्रिया संहिता के अध्याय XVI के बाद के खंड या धारा के तहत। संहिता के अध्याय XVII के 204 में यह सकारात्मक रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने अपना दिमाग लगाया था और इसलिए संज्ञान लिया था।"

21. इन पहलुओं पर मोहम्मद यूसुफ बनाम अफ़ाक जहां (श्रीमती) और अन्य, [2006] 1 ऐसेसीसी 627 में प्रकाश डाला गया था।

22. भा.दं.सं. की धारा 397 के आवश्यक तत्व निम्न प्रकार हैं:

1. अभियुक्त ने लूटपाट की हो।

2. लूट या डकैती करते समय (i) आरोपी ने घातक हथियार का इस्तेमाल किया (ii) किसी व्यक्ति को गंभीर चोट पहुंचाने के लिए (iii) किसी व्यक्ति को मौत या गंभीर चोट पहुंचाने का प्रयास किया।

3. "अपराधी" का तात्पर्य केवल उस अपराधी से है जिसने वास्तव में घातक हथियार का इस्तेमाल किया था। जब केवल एक ने ही घातक हथियार का इस्तेमाल किया हो, तो दूसरों को न्यूनतम सज़ा नहीं दी जा सकती। यह केवल व्यक्तिगत दायित्व की परिकल्पना करता है, किसी रचनात्मक दायित्व की नहीं। भा.दं.सं. की धारा 397 केवल उस विशेष आरोपी के खिलाफ लगती है जो घातक हथियार का इस्तेमाल करता है या प्रावधान में उल्लिखित कोई भी कार्य करता है। लेकिन अन्य अभियुक्त सह-अभियुक्तों के कृत्यों के लिए उस धारा के तहत परोक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं हैं।

23. जैसा कि इस अदालत ने फूल कुमार बनाम दिल्ली प्रशासन, एआईआर (1975) ऐसेसी 905 में कहा था, भा.दं.सं. की धारा 397 के तहत "अपराधी" शब्द उस अपराधी तक ही सीमित है जो किसी घातक हथियार का उपयोग करता है। डकैती करते समय एक अपराधी द्वारा घातक हथियार का उपयोग करने पर किसी अन्य अपराधी पर न्यूनतम सजा

लगाने के लिए भा.दं.सं. की धारा 397 लागू नहीं हो सकती, जिसने किसी भी घातक हथियार का इस्तेमाल नहीं किया था। धारा 397 भा.दं.सं. और 398 भा.दं.सं. में प्रयुक्त 'उपयोग' के बीच अंतर है। भा.दं.सं. की धारा 397 केवल घातक हथियार से लैस होने से कहीं अधिक कुछ दर्शाती है।

24. वर्तमान मामले में माना जाता है कि कोई चोट नहीं पहुंचाई गई है। पीड़ित के मन में आतंक पैदा करने के लिए अपराधी द्वारा हथियार का उपयोग पर्याप्त है। इसे आगे दिखाने की आवश्यकता नहीं है कि इसका उपयोग वास्तव में काटने, छुरा घोंपने या गोली मारने के लिए किया गया है, जैसा भी मामला हो। (देखें: अशफाक बनाम राज्य (एनसीटी दिल्ली सरकार), एआईआर (2004) ऐसेसी 1253)।

25. इसलिए, भा.दं.सं. की धारा 397 के तहत अपराध स्पष्ट रूप से स्थापित नहीं किया गया है। इसके अलावा, शिकायतकर्ता पीडब्लू 1 के अत्यधिक असंगत संस्करण के मद्देनजर धारा 392 और 452 के तहत दंडनीय अपराध के लिए आवश्यक सामग्री स्थापित नहीं की गई है।

26. दोषसिद्धि को रद्द करने की आवश्यकता है और अपील स्वीकार की जानी चाहिए, जैसा कि हम निर्देशित करते हैं। यह ध्यान रखना उचित होगा कि अदालतें मुकदमे के दौरान आरोपी व्यक्तियों से निपटते समय, जब उनका प्रतिनिधित्व वकील द्वारा नहीं किया जाता है, धारा 304 दण्ड प्रक्रिया संहिता के आदेश को ध्यान में रखें।

अपील स्वीकार की गई।

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायता से अनुवादक न्यायिक अधिकारी सुनील कुमार पंचोली (आर.जे.ऐसे.) (सेशन न्यायाधीश संवर्ग) द्वारा किया गया है। अस्वीकरण: यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उद्देश्यों के लिए, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रामाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य से भी अंग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।